देशप्रेम की साकार अभिव्यक्ति

स्वदेशी

दत्तोपंत ठेंगड़ी

स्वदेशी जागरण मंच
60 नार्थ एवेन्यू, नई दिल्ली-110001
दूरभाष : 3793612

देशप्रेम की साकार अभिव्यक्ति

स्वदेशी

दत्तोपंत ठेंगड़ी

स्वदेशी जागरण मंच

60 नार्थ एवेन्यू, नई दिल्ली – 110001

दूरभाष : 3793612

प्रकाशक

स्वदेशी जागरण मंच

60 नार्थ एवेन्यू, नई दिल्ली - 110001

दूरभाष : 3793612

प्रथम संस्करण : अक्टुबर 1994

सहयोग राशि : पाँच रुपया

लेजुर टाईपसैटिंग

भार्गव लेजुर प्रिन्टर्स,

मानसरोवर पार्क, शाहदरा,

दिल्ली- 110032

मुद्रक :

ए. पी. ऑफसेट नवीन शाहदरा,

दिल्ली-110032

भूमंडलीकरण, उदारीकरण और 'स्वदेशी'-1
देशप्रेम की साकार अभिव्यक्ति है स्वदेशी

वर्ष 1993 में स्वदेशी विचित्र शब्द बन चुका है ।

गली-मुहल्ले का हर एक सामान्य आदमी भी जानता है कि इसका क्या मतलब है ।

लेकिन असामान्य लोगों के लिए यह कोई अजूबी चीज है । महानगरों के वातानुकूलित घरों के निवासी महानुभावों के लिए यह अवधारणा विचित्र है-आधुनिकतावाद के महासमुद्र में कोई असामान्य-सी बात ।

सत्ता के 'दुलारे' 'अर्थशास्त्रियों' के लिए यह लाल (यानी वामपंथी) कचरा है ।

सत्ताधारी नेताओं के लिए यह उनके बने-बनाए खेल को बिगाड़ देने वाली चीज है ।

इसलिए भोग-विलास की दुनिया के इस बेमेल विचार को 'सुधार विरोधी' और 'पिछड़ापन' करार दिया जा रहा है ।

उनके लिए देश का भविष्य नहीं बल्कि पश्चिमी रंग में रंगे शहरी महानुभावों की सुख-सुविधा ज्यादा अहम है ।

ये असामान्य लोग जमीन से जुड़े हुए नहीं हैं । ये किसी शीशमहल में रह रहे हैं । देश की सच्चाइयों से उनका कोई वास्ता नहीं है और बाकी देशवासियों से वे कटे-छंटे हैं ।

सौभाग्यवश, ऐसे लोग बहुत ही कम हैं-इस गरीब देश की कुल आबादी के एक फीसदी से भी कम ।

"यह मानना भूल है कि 'स्वदेशी' का संबंध केवल माल या सेवाओं से है । यह फौरी किस्म की सोच होगी । इसका मतलब है देश को आत्मनिर्भर बनाने की प्रबल भावना, राष्ट्र की सार्वभौमिकता और स्वतंत्रता की रक्षा तथा समानता के आधार पर अंतर्राष्ट्रीय सहयोग ।"

स्वदेशी भावना से प्रेरित अंग्रेजों ने अपनी प्रधानमंत्री को जर्मन कार-मर्सिडीज बेंज खरीदने नहीं दी। जब एक भारतीय पत्रकार ने वियतनाम के प्रधानमंत्री हो ची मिह्न से पूछा कि वे कमजोर विएतनामी कपड़े की फटी (और सिली हुई) पतलून क्यों पहनते हैं तो उन्होंने मुस्कुराते हुए जवाब दिया, 'मेरे मुल्क की इतनी ही हैसियत है ।" जब अमेरिका ने कैलिफोर्निया के संतरों को जापान के बाजार पर थोपने की कोशिश की तो जापानी उपभोक्ताओं ने वैसा एक भी संतरा नहीं खरीदा, नतीजतन अमेरिकी धौंस-पट्टी औंधे मुंह जा गिरी ।

चीन और कोरिया की सरकारों ने जब माइकेल जैक्सन को इस बिना पर अपने देश में आने नहीं दिया कि उसका शो सांस्कृतिक हमला है, तब वे अपनी स्वदेशी भावना ही जाहिर कर रहे थे । यह घटना यह भी जताती है कि स्वदेशी, भौतिक वस्तुओं तक ही सीमित नही है बल्कि यह एक व्यापक आधार वाली विचारधारा है जो राष्ट्रीय जीवन के तमाम पहलुओं को खुद में समेटती है । ऐसी और घटनाओं का उल्लेख करना बेमानी होगा । मुद्दे की बात यह है कि विभिन्न देशों के इन देशभक्तों ने 'स्वदेशी' भावना से प्रेरणा पाई ।

देशप्रेम की साकार और व्यावहारिक अभिव्यक्ति है स्वदेशी । देशप्रेम का अर्थ दुनिया से अलग-थलग रहना नहीं है, खासकर हमारी परंपरा में जो वसुधैव कुटुंबकम् के आधार पर टिकी है । इसके मुताबिक मानवीय चेतना के स्तर पर अंतर्राष्ट्रीयता, राष्ट्रवाद का ही विस्तार हैं । यह बात मार्के की है कि साम्राज्यवादी शक्तियां अक्सर देशभक्ति को संकीर्णतावाद करार देती हैं । मिसाल के तौर पर दूसरे महायुद्ध के बाद जब यह स्पष्ट हो गया कि अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के दबाव के कारण साम्राज्यवादियों को अपने उपनिवेशों को आजाद करना ही होगा तो उन्होंने बदले माहौल में अपने हितों की यथासभंव सुरक्षा के लिए मुहिम छेड़ दी । भारत में वायसराय के कुछ एक्जिक्यूटिव कौंसिलर उनके साधन बने । पूर्ण स्वराज को संकीर्णतावाद बताते हुए सर सी. पी. रामस्वामी अय्यर ने कहा कि अंतरराष्ट्रीयतावाद के नए युग में 'हमारा लक्ष्य स्वाधीनता नहीं, परस्पर निर्भरता होना चाहिए ।' डॉ. मनमोहन सिंह के उदारीकरण और भूमंडलीकरण के तर्क रामस्वामी के परस्पर निर्भरता वाले तर्कों के ही आधुनिक रूप हैं।

देशभक्त अंतर्राष्ट्रीयतावाद के खिलाफ नहीं हैं । राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता का उनका आग्रह अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के विरुद्ध नहीं जाता है बशर्ते उसका आधार समानता हो और उसमें हर देश के स्वाभिमान का सम्मान किया जाए । भूमंडलीकरण के पैरोकारों से उनका विरोध अलग और ज्यादा ठोस सवाल पर है ।

'स्वदेशी वाले' इस विचार को मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि विकास का पश्चिमी मॉडल सार्वभौम है और दुनिया भर के लोगों को उसकी नकल करनी चाहिए । हालांकि वे सांस्कृतिक आदान-प्रदान को स्वीकारते हैं मगर इस बात पर जोर देते हैं कि हर समाज की अपनी संस्कृति होती है और हर देश की प्रगति और विकास के मॉडल का उस देश के सांस्कृतिक मूल्यों के साथ तारतम्य होना चाहिए । आधुनिक बनने का मतलब पश्चिमीकरण नहीं है । आधुनिकीकरण के क्रम में राष्ट्रीय संस्कृति की भावना का आदर होना चाहिए । वे पश्चिम के हित में विभिन्न संस्कृतियों और राष्ट्रीय पहचानों को गड्ड-मड्ड कर देने की कोशिशों का विरोध करते हैं ।

आधुनिक पश्चिमी तकनीक और आर्थिक प्रणाली के साथ एक ऐसी सभ्यता आ रही है जो गैर-पश्चिमी सभ्यताओं के अनुकूल नहीं है । विरोध का यह मूल आधार है ।

बहरहाल, अमेरिकी रंग में रंगे हुए भारतीय, स्वदेशी जागरण मंच का इस आधार पर विरोध कर रहे हैं कि स्वदेशी 'मुक्त व्यापार के पवित्र' और सर्वमान्य सिद्धान्त का विरोधी है, जिसे सभी देश मानते हैं ।

इसलिए यह जरूरी हो गया है कि मुक्त व्यापार के सिद्धान्त और मौजूदा अंतरराष्ट्रीय व्यापार में उसके महत्व की पूरी पड़ताल की जाए ।

उदारीकरण-मुक्त व्यापार ?

मुक्त व्यापार के सिद्धांत का प्रतिपादन सर्वप्रथम एडम स्मिथ ने किया मगर 1817 में रिकार्डो के राजनैतिक अर्थशास्त्र के सिद्धांत के प्रकाशन के बाद उसे निर्विवाद मान लिया गया । 'त्तुलनात्मक लाभ के सिद्धांत' का वैचारिक आधार अडिग बन गया । इस

सिद्धांत के मुताबिक सर्वोत्तम व्यापार प्रणाली वही है जिसमें बाजार की ताकतों को बेरोकटोक संचालित होने दिया जाए । तुलनात्मक मुनाफे के रिकार्डो के मॉडल और हेक्शर ओलिन के सूत्र पर आधारित इस सिद्धांत का दावा है कि मुक्त व्यापार से हर देश उत्पादन में महारथ हासिल करने और अपने सीमित साधनों के बेहतरीन इस्तेमाल में सक्षम बन जाता है । 18 वीं सदी के शुरू से लेकर 1970 के बाद वाले वर्षो तक अंतर्राष्ट्रीय व्यापार 'तुलनात्मक मुनाफे' की अवधारणा से संचालित होता रहा जिसके मुताबिक हर देश व्यापार में अपनी विशिष्ट स्थिति का फायदा उठाता है । ऐसा मान लिया गया था कि अर्थव्यवस्था में आकार के आधार पर मुनाफे में कोई फर्क नहीं होता है और वे आदर्श प्रतियोगिता की स्थिति में है उनमें फर्क रूचि, तकनीक या साधन लगाने का होता है। इस सिद्धांत में भी इनकी अहमियत को लेकर अलग-अलग राय थी । मसलन, रिकार्डो का मॉडल तकनीक के अंतर को व्यापार की वजह मानता है वहीं हेक्शर-ओलिन-सैम्युएलसन मॉडल साधन लगाने में अंतर को ज्यादा महत्व देता है । इसके बावजूद 1970 के दशक तक 'तुलनात्मक मुनाफे' के सिद्धान्त को सही माना जाता रहा । अमेरिका, इंग्लैंड और नीदरलैंड जैसे देशों में इसे सरकार की व्यापार नीति का सिद्धांत माना गया (हालांकि फ्रांस इटली और पश्चिमी जर्मनी ने उसे सरकारी व्यापार नीति का सिद्धांत नहीं माना) ।

गैट मुक्त व्यापार नीति का साकार रूप बन गया है । सच ही कहा गया है कि गैट की बुनियाद में मुक्त व्यापार के दर्शन का गारा लगा है ।

बहरहाल, 1950 वाले दशक के बाद के वर्षों से ही मुक्त व्यापार सिद्धांत के सही होने पर सवाल (तकनीकी में अंतर का सिद्धांत और उत्पादन क्रम सिद्धांत) उठने लगे । क्या तुलनात्मक मुनाफे का सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में आधुनिक विकास की समग्र व्याख्या कर सकता है? 1970 से मुक्त व्यापार सिद्धांत को लेकर शक के बादल गहराने लगे ।

तुलनात्मक मुनाफे का सिद्धांत पूर्ण प्रतियोगी बाजार और नियत लाभ की मान्यता पर टिका हुआ है । लेकिन, जैसा कि क्रुगमेन बताते है अंतरराष्ट्रीय बाजार संपूर्ण रूप से प्रतियोगी नहीं हैं । बढ़ता लाभ इन बाजारों के क्रियाकलाप का आधार है और बाजार की दमदार फर्में ही बेहतर स्थिति में होती है। एक बार लाभ उठा लेने पर आगे इसका

क्रम शुरू होने का आधार तैयार हो जाता है । विन्फ्रेड रुईग्रोक जैसे विशेषज्ञ ने बताया कि मुक्त व्यापार के सिद्धांत से अंतर्राष्ट्रीय पूंजी के प्रवाह जैसे विदेश से सीधे निवेश आदि का आकलन नहीं किया जा सकता । उसमें उत्पादन प्रक्रिया का कोई विश्लेषण नहीं किया गया । तकनीकी विकास को सर्वसुलभ मान लिया गया । मुक्त व्यापार के सिद्धान्त से न तो विभिन्न आकार की अर्थव्यवस्था की ओर न ही सीधे विदेशी निवेश में तेज वृद्धि की ही कोई व्याख्या की जा सकती है । सीमित संसाधनों को युक्तिपूर्ण ढंग से लगाना इसका एकमात्र मापदंड कभी नहीं रहा ।

रुईग्रोक एक सवाल पूछते है सरकारें कई बार मुक्त व्यापार के नियमों को न मानने का रास्ता क्यों अपनाती हैं । उनके मुताबिक इसके जवाब से मुक्त व्यापार के सिद्धांत की एक बड़ी खामी का पता चलता है । इसकी मूल मान्यता के उलट सीमित संसाधनों का कारगर इस्तेमाल कभी भी सरकार की नीति का एकमात्र आधार नहीं रहा और न ही ऐसा कभी होगा । सरकारी नीतियां राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सैन्य जरूरतों के आधार पर तय होती है । सरकार को कार्यक्षमता बढ़ाने से कहीं ज्यादा चिंता राष्ट्र की सुरक्षा और आंतरिक व्यवस्था बनाए रखने की होती है ।

साथ ही देशी फर्मों को लाभ पहुंचाने के लिए ऐसी नीतियां बनाने को व्यापक समर्थन मिल रहा है जो विदेशी फर्मों के साथ भेदभाव पर आधारित होती हैं । ब्रांडर ने देशी फर्मों को, जो विश्व बाजार में विदेशी प्रतिद्वंद्वियों के मुकाबले में है, मजबूती प्रदान करने के लिए सब्सिडि देने का सुझाव दिया । स्पेंसर ने भी इसी तरह सब्सिडि देने की राय दी । यह सोच मजबूत हो रही है कि आयात पाबंदियां और निर्यात सब्सिडि खास स्थितियों में राष्ट्रहित में होती है । जापान चावल उगाने वाले किसानों को 700 फीसदी सब्सिडि देता है वहीं विदेशी चावल पर वह 700 फीसदी शुल्क लगाता है जो इस बात को सही ठहराता है ।

कई बार सरकारी कार्यवाही अनिवार्यत: राष्ट्रहित में न होकर देश के दबाव समूहों के दखल का नतीजा होती है।

1980 के दशक के बाद वाले वर्षों में मुक्त व्यापार के पैरोकारों ने मान लिया कि इसकी मूल अवधारणाओं के सामने गंभीर चुनौतियाँ खड़ी हो गई है । सरकारी दखल से मुनाफा एक देश से दूसरे देश में स्थानांतरित हो सकता है । वैसी हालत में मुक्त व्यापार के रास्ते

पर चलने वाले देशों की संपदा का दूसरे देश में पहुंच जाना अपरिहार्य है और तुलनात्मक मुनाफे की जगह 'प्रतियोगी मुनाफा' ले लेता है । 1980 के दशक में यूरोपीय समुदाय और अमेरिका में निर्यात बढ़ाने की सफल मुहिम ने साबित कर दिया कि किस तरह 'प्रतियोगी मुनाफा' कमाया जा सकता है ।

1970 और 1980 के दशक में विशेषज्ञों ने यह मानना छोड़ दिया कि मुक्त व्यापार का मॉडल परम सत्य है । पॉल क्रुगमैन कहते हैं 'मुक्त व्यापार एक ऐसा विचार है जिसकी पवित्रता खत्म हो चुकी है । इस दौरान अंतरराष्ट्रीय व्यापार के परंपरागत मॉडलों में नई चीजें जोड़ी गई और बहुधा उनकी जगह नए मॉडल अपनाए गए जो अर्थव्यवस्था के आकार, बढ़ते मुनाफे और असमान प्रतियोगिता पर जोर देते हैं । बड़ी और गतिशील अर्थव्यवस्थाएं, निवेश ज्ञान, अनुसंधान और विकास पर आधारित होती हैं ।

आज यह आम चलन है कि तुलनात्मक, मुनाफा व्यापार का अधूरा मॉडल है लेकिन साथ ही यह भी माना जा रहा है कि सही नीति यही है, क्रुगमैन बताते हैं कि मुक्त व्यापार के अधिकांश नए पैरोकारों का भी यही मानना है । हालांकि मुक्त व्यापार अभी अतीत में दफन नहीं हुआ है मगर उसकी पुरानी हैसियत नहीं रह गई है । "1817 में रिकार्डो के राजनैतिक अर्थशास्त्र के सिद्धांतों के प्रकाशन के बाद मुक्त व्यापार पहली बार इतने गंभीर सवाल के घेरे में है ।"

उरुग्वे दौर की वार्ताओं में एक ओर तो मुक्त व्यापार के गुण गाए गए वहीं अमेरिका अपनी व्यापार रणनीति में संरक्षणवाद और दूसरे देशों में निर्यात बढ़ाने के लिए हस्तक्षेप का सहारा लेता है ।

भूमंडलीकरण, उदारीकरण और स्वदेशी' -2

गेट और अमेरिका के तहत उदारीकरण धोखा है

मुक्त व्यापार की अवधारणा के पक्ष में तमाम प्रचारों के बावजूद बकौल रुइग्रोक विश्व व्यापार की तस्वीर कुछ ऐसी है :

- लगभग 25% व्यापार बहुराष्ट्रीय कंपनियों के बीच होता है ।

- लगभग 25 % द्विपक्षीय व्यापार (परस्पर लाभ के लिए किए गए समझौतों के तहत) है ।

- लगभग 25 % वस्तु विनिमय है ।

- सिर्फ 25 % व्यापार को गैट के नियमों से संचालित मुक्त व्यापार माना जा सकता है । रुइग्रोक ने ये आंकड़े फोरकास्टिंग ऐंड एसेसमेंट इन साइंड एंड टेक्नोलॉजी (फास्ट) से लिए हैं ।

मुक्त व्यापार के सिद्धान्तों की वकालत करते हुए भी अमेरिका कपड़ों के मामले में 1956 से ही संरक्षणवाद की नीति पर चल रहा है जब कृषि कानून के तहत राष्ट्रपति को 'वस्त्र या वस्त्र उत्पाद के अमेरिका में आयात' को सीमित करने के लिए समझौते करने का अधिकार मिल गया । 1980 के दशक में जापानी आयात से अमेरिकी मोटरकार उद्योग को बचाने के लिए अमेरिकी प्रशासन ने गैर-तटकर बाधाएं खड़ी की । जैसा कि जेम्स डुन कहते हैं कि महायुद्ध के बाद से मोटरकारों का अंतरराष्ट्रीय व्यापार उदारीकरण और संरक्षणवाद के मिले-जुले रास्ते पर चल रहा है ।

जापान कई मामलों में एकतरफा व्यापार करता है यानी, वह जिन वस्तुओं का निर्यात करता है उनका आयात नहीं करता । जापानी विदेशी निवेश में असंतुलन के साथ भी यही बात है । 31 मार्च 1990 को विदेशों में जापानी निवेश जापान में विदेशी निवेश से सत्रह गुना ज्यादा था । विशेषज्ञों के अनुसार जापान की प्रतिस्पर्धा की शक्ति तथा

व्यापार और निवेश में भारी असंतुलन औद्योगिक उत्पादों के मामले में जापान के यूरोपीय समुदाय और अमेरिका से टकराव के लिए कारणीभूत है । जापानी उद्योगों के 'टोयोटावाद' (टोयोटिज्म) के कारण जापान अमेरिका तथा यूरोपीय समुदाय के ‘फोर्डवाद' (फोर्डिज्म) की तुलना में ज्यादा लाभप्रद स्थिति में रहा । उदाहरण के लिए 1960 तथा 1970 के दशकों में यूरोपीय समुदाय का जहाजरानी उद्योग जापानी जहाजरानी कंपनियों की आक्रामक विपणन रणनीति से उत्पन्न चुनौती के आगे टिक नहीं सका ।

यूरोपीय समुदाय और अमेरिका में जापान के सीधे विदेशी निवेश की वर्तमान बढ़ोतरी से आतंकित इन देशों के उद्योग ज्यादा संरक्षण और अधिक व्यापारिक बाधाएं खड़ी करने की मांग कर रहे हैं । (हालांकि हाल में जापानी अर्थव्यवस्था में भी स्खलन के चिह्न उभरने लगे हैं ।)

यह जानना दिलचस्प होगा कि मुक्त व्यापार के सिद्धान्त की आलोचना अब जड़ जमाने लगी है क्योंकि यूरोपीय समुदाय और अमेरिका को कई उद्योगों में बढ़ती उग्र प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ रहा है । पहले इस सिद्धांत के पैरोकार रहे कई लोग आज इसके आलोचक है ।

यह मौकापरस्ती कोई नई नहीं है । जब जर्मनी की वस्तुएं ब्रिटेन के बाजारों पर छा रही थी तब ब्रिटेन मुक्त व्यापार के सिद्धांत का कटु आलोचक हुआ करता था । लेकिन औद्योगिक क्रांति के बाद यह समीकरण बदल गया और ब्रिटेन फिर इस सिद्धांत का सबसे बड़ा पैरोकार बन गया । 'व्यापार में न्यायोचित व्यवहार' की वर्तमान अमेरिकी अवधारणा से विश्वजीत धर को ग्लैडस्टोन की करीब शताब्दी भर पहले की टिप्पणी का स्मरण हो आता है कि 'यह व्यापार में न्यायोचित व्यवहार’ । हमारे पुराने मित्र संरक्षणवाद से काफी कुछ मिलता-जुलता है ।

संयुक्त राज्य अमेरिका की आर्थिक शक्ति के अधोगति की शुरूआत 1960 के दशक से हुई और उसका प्रभुत्व समाप्त होने की प्रक्रिया 1973 के आसपास आरंभ हो गई । 1980 का दशक आते-आते इस बात की पुष्टि भी हो गई कि अमेरिका एक ऐसी आर्थिक शक्ति है जो तेजी से पतन की ओर अग्रसर है । लिंडर जैसे कई लेखकों को विश्वास है कि अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में अमेरिकी प्रभुत्व अगली शताब्दी के आरंभिक वर्षों में

समाप्त हो जाएगा । अपनी अर्थव्यवस्था को पहुंचती हर नई चोट के साथ ही अमेरिका मुक्त व्यापार के सिद्धांत से दूर होता जा रहा था और अब तो उसने कभी परम पवित्र रहे इस सिद्धांत को तिलांजलि ही दे दी है । विश्वजीत धर ने अपनी पुस्तक 'द डिक्लाइन ऑफ फ्री ट्रेड एंड द यू. एस. ट्रेड पॉलिसी' में हाल के इस घटनाक्रम और मुक्त व्यापार के पथ से अमेरिका के हटते जाने पर प्रकाश डाला है ।

नीति के स्तर पर गैर-दखलंदाजी के तरीके के समापन को अमेरिका के मामले में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है जहां व्यापार-प्रशासन ने विशेष रूप से पिछले दो दशकों में 'सक्रिय' व्यापार नीति अपनाई । शुरुआती वर्षों में राज्य (सरकार) का हस्तक्षेप मुख्य रूप से संरक्षण की बढ़ती व्यवस्था के रूप में होता था । इसका मकसद होता था- सहयोगी देशों को अपनी नीतियों में परिवर्तन तथा ज्यादा 'खुलापन' लाने को विवश करके अमेरिकी उत्पादों के लिए ज्यादा से ज्यादा बाजार कब्जा करना । परन्तु हाल के वर्षों में यह संरक्षणवाद उसकी नीतिगत पहल का एकमात्र आधार बन गया है । अमेरिका में 1974 से व्यापार के बारे में जो नियम कानून बने हैं वे इस प्रवृत्ति का खुलासा करते हैं । 'द ओमनीबस ट्रेड एंड कंपीटीटिवनेस एक्ट-1988' (सर्व संरक्षी व्यापार और प्रतिस्पर्धाजनक कानून) अपने दो नए प्रावधानों सुपर 301 तथा स्पेशल 301 के माध्यम से नीति निर्माताओं के मकसद का पूरी तरह खुलासा कर देता है ।

अमेरिका के अपनाए संरक्षणवादी तरीके व्यापार में राज्य के हस्तक्षेप न करने के मूल सिद्धांतों पर पानी फेरते हैं तथा गैट नियमों से शासित युद्धोत्तर व्यापार व्यवस्था को रेखांकित करते है । अमेरिका ने गैट नियमों का उल्लंघन करते हुए योजनाबद्ध रीति से विशिष्ट व्यापार अवरोधक खड़े कर दिए हैं । इससे बहुपक्षीय व्यापार व्यवस्था की महत्ता बुरी तरह घटी है । जापान तथा निर्यात के नए महारथियों को जवाब देने के लिए अमेरिका ने संरक्षणवाद की ज्यादा से ज्यादा खुराक देकर आयात को रोका है । और संरक्षणवाद की यह स्थिति प्राप्त करने के लिए उसने गैर-तटकर अवरोध खड़े किए । फिर 1974 और 1988 के व्यापार कानूनों में अमेरिकी राष्ट्रपति को व्यापारिक प्रत्युत्तर देने की जो शक्तियां दी गई थी, उनका प्रयोग करते हुए विदेशी बाजारों को अपने उत्पादों के लिए खुलने पर मजबूर किया और इस तरह अपना निर्यात बढ़ाया । पहले चरण में घरेलू उत्पादकों को आयात के मुकाबले संरक्षण दिया गया । अमेरिकी व्यापार-प्रशासन

ने विभिन्न देशों पर स्वैच्छिक निर्यात प्रतिबंध (वी. ई. आर.) तथा व्यवस्थित विपणन पद्धति (ओ. एम. ए.) अनेक बार थोपी । जिन उद्योगों को आयात के मामले में संरक्षण दिया गया उनमें प्रमुख हैं-इस्पात, कपड़ा उद्योग, स्वचालित वाहन उद्योग (ऑटोमोबाइल); मशीनों के पुर्जे तथा सेमी-कंडक्टर, जो देश अपने बाजारों में अमेरिकी उत्पादों को मुक्त रूप से आने की अनुमति नहीं दे रहे थे, उनकी नीतियों पर 1974 के कानून धारा 301 थोप दी गई । 1985 में कोरिया के बीमा उद्योग को इसका शिकार बनाया गया । 1985 तथा 1988 के बीच धारा 301 का इस्तेमाल 26 बार किया गया ।

1988 के ओबनिबस ट्रेड एंड कंपीटीटिवनेस एक्ट के तहत धारा 301 में दो परिवर्तन किए गए । सुपर 301 को विभिन्न देशों के सामान्य तथा विशिष्ट व्यापार प्रतिबंधों से निबटने के लिए नियत किया गया जबकि स्पेशल 301 को अमेरिकी मूल के बौद्धिक संपदा अधिकारों को अपर्याप्त संरक्षण दिए जाने वाले देशों पर प्रयोग करने के लिए रखा गया ।

इसके अलावा सुपर 301 के तहत व्यापार विकृति के पुष्ट हुए विशिष्ट मामलों के लिए समय-सीमा तय की गई और अमेरिका के मतानुसार जो देश अमेरिकी निर्यात में रोड़े अटकाते हैं उनके विरुद्ध कार्यवाही करने की समयावधि भी निश्चित की गई । सुपर 301 के तहत आने वाले मामलों में कार्यवाही 1989 और 1990 में आरंभ होती थी, व्यापार-विकृति के मामले पुष्ट हो जाने के बाद दोषी देशों के विरुद्ध 180 दिन के भीतर जवाबी कार्यवाही की शुरूआत की जाती थी । स्पेशल 301 में अमेरिकी मूल के बौद्धिक संपदा अधिकरों के उल्लंघन के ऐसे मामले आते हैं जिनसे अमेरिकी निर्यात को नुकसान पहुंचता है । स्पेशल 301 अमेरिकी निर्यात में बढ़ोतरी का पुख्ता इंतजाम करने के मकसद से है इसके तहत अमेरिकी व्यापार प्रशासन जिसे 'उचित' समझे ऐसी बौद्धिक संपदा अधिकारों की संरक्षण व्यवस्था के जरिए दूसरे देशों को उनके अपने बाजारों में अमेरिकी व्यापारिक हितों को सुदृढ़ एकाधिकार देने के लिए बाध्य किया जाता है ।

धारा 337 के विपरीत स्पेशल 301 के प्रावधानों में नुकसान साबित करने की जिम्मेदारी शिकायतकर्ता पर नहीं है । अमेरिकी अंतरराष्ट्रीय व्यापार आयोग को शिकायत दर्ज होने

के 90 दिनों के भीतर करना सिर्फ यही होता है कि वह शिकायत की जांच शुरू करे और शिकायतकर्ता को संरक्षण प्रदान कर दे ।

मई 1989 में इस आयोग ने तीन देशों- भारत, जापान और ब्राजील को चिह्नित किया तथा उनके विरुद्ध सुपर 301 के अंतर्गत कार्यवाही करने के लिए उन्हें प्राथमिकता वाले देशों की सूची में डाल दिया । साथ ही आयोग ने अमेरिकी निर्यात को बाधित करने वाली छह बातों को भी चिन्हित किया; इन देशों के प्राथमिकता कार्यवाही वाले व्यवहार की पहचान की गई । भारत के मामले में पाया गया कि उसके दो व्यवहार अमेरिकी निर्यात को उसके बाजारों में घुसने से रोकते हैं, ये व्यवहार थे :

(अ) देश में आने वाले विदेशी निवेशकों के लिए अपने उत्पाद का एक हिस्सा निर्यात करना तथा स्थानीय तौर पर उत्पादित कच्ची सामग्री का उपयोग करना जरूरी था इससे व्यापार विकृति पैदा हुई; और

(ब) अमेरिका के सेवा क्षेत्र को भारतीय बाजार में प्रतिद्वंद्विता में उतरने की मनाही थी । अमेरिकी बीमा कंपनियों का प्रवेश तो पूरी तरह निषिद्ध था ।

अप्रैल 1990 में सुपर 301 के अन्तर्गत 'प्राथमिकता वाले व्यवहारों' की दूसरी सूची जारी की गई । इस सूची में दो मामले थे और दोनों ही भारत से संबंधित थे । यानी 1989 में सूचीबद्ध किए गए भारत के दो प्राथमिकता वाले व्यवहार फिर 1990 की सूची में भी डाल दिए गए । जापान और ब्राजील को छोड़ दिया गया । अमेरिका के लिए सबसे ज्यादा परेशान करने वाले बीमा उद्योग तथा निवेश पर लगाए प्रतिबंध थे ।

1989 और 1990 में चार देशों-भारत, चीन, थाइलैंड तथा ब्राजील को प्राथमिकता वाली निगरानी सूची में रखा गया । अप्रैल 1991 में अमेरिकी आयोग ने स्पेशल 301 के अन्तर्गत कार्रवाई शुरू करने का फैसला किया । कार्यवाही के लिए भारत, चीन और थाइलैंड को नामांकित किया गया ।

लेकिन अब अमेरिका मुक्त व्यापार और तथाकथित उदारीकरण पर जोर दे रहा है । अमेरिकी विशेषज्ञों ने तो प्रचार तकनीक में डॉ. गोएबल्स को भी पीछे छोड़ दिया है । गोएबल्स ने कहा था कि 'झूठ सौ बार दोहराओं वह सच बन जाएगा'' । हिटलर तो एक कदम और आगे बढ़ गया उसने कहा कि यदि झूठ ही दोहराना है तो छोटा-मोटा झूठ

क्यों दोहराया जाए इतना भारी-भरकम झूठ उछाला जाए कि उसकी महाकायता के कारण लोग इस बारे में तनिक भी संदेह न कर पाएं कि इतनी बड़ी बात झूठ भी हो सकती है । धुंआधार अमेरिकी प्रचार के कारण पिछले दो दशकों में आर्थिक उदारीकरण का विचार लोकप्रिय हुआ है । नियंत्रणों के खात्मे तथा निजीकरण के विचारों को मान्यता मिलने लगी है । अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक कर्जदार तीसरी दुनिया के देशों पर तरह-तरह के सिद्धांत उनके गले के नीचे उतारने की जद्दोजहद कर रहे हैं । भविष्य में भी कर्ज चाहिए तो आर्थिक उदारीकरण की शर्त माननी पड़ेगी । गैट करार और अमेरिका मुक्त व्यापार को जैसे ईसोपदेश के पवित्र सत्य की तरह जप रहे हैं । लेकिन स्वयं अमेरिका ही इस 'पवित्र' सिद्धांत का उल्लंघन कर रहा है । अमेरिका अंतरराष्ट्रीय मानकीकरण संगठन के बनाए मानकों का भी उल्लंघन कर रहा है । अमेरिका की सार्वजनिक अधिप्राप्तियों की नीतियां गैट की सरकारी अधिप्राप्ति संहिता के अनुरूप नहीं हैं । 'सिर्फ अमेरिकी क्रय' वाले प्रतिबंध बड़े क्षेत्र पर लागू हैं । विशेष संरक्षण के महत्वपूर्ण इकतीस मामले हैं जो मुख्य रूप से चार बड़े क्षेत्रों-निर्माण (मेनुफैक्चरिंग), खनन, कृषि तथा मत्स्य पालन को अपनी परिधि में लेते हैं । कुछ अन्य सेवाओं को भी सरकारी संरक्षण दिया जा रहा है । अमेरिका अपने कृषि क्षेत्र को भारी सब्सिडी देता है जबकि उसकी मांग है कि दूसरे देश अपने कृषि क्षेत्र को सब्सिडि देना बंद कर दें । औषधि उद्योग के क्षेत्र में भी वह दोहरे मापदंड अपना रहा है ।

स्पष्ट रूप से ये दूसरों को दबाने के सिद्धांतहीन तौर-तरीके हैं । इस अपराध के दोषी वहां के शासक तथा बड़े पूंजीपति हैं, वहां की आम जनता नहीं जिसे खुद आर्थिक मोर्चे पर होने वाली गतिविधियों से अनजान रखा गया है । अमेरिका अपनी यह धौंस-पट्टी सिर्फ दक्षिण के विकासशील देशों पर ही नहीं अपितु यूरोपीय समुदाय तथा उत्तरी अमेरिका के लोगों पर भी चला रहा है । फ्रांस के किसानों की हाल की- उग्र प्रतिक्रिया और दूसरे यूरोपीय देशों के किसानों द्वारा उन्हें दिया गया जबरदस्त समर्थन, उत्तरी अमेरिकी मुक्त व्यापार संधि (एन. ए. एफ. टी. ए. 'नाफ्ता') के विरुद्ध अमेरिका के कामकाजी लोगों का आंदोलन, कुख्यात 'नाफ्ता' पर हस्ताक्षर करने से नाराज कनाडा के मतदाताओं द्वारा वहां की सत्तारूढ़ पार्टी के विरुद्ध अपना अभिमत जोरदार ढंग से दर्ज कराना, खालिस अमेरिकी पर्यावरणवादियों और मानवतावादियों के 12 संगठनों द्वारा अमेरिकी कंपनी कारगिल के काम करने के तौर-तरीकों के खिलाफ 2 अक्टुबर

1994 को किया प्रदर्शन- ये सब इस बात के प्रमाण हैं कि अमेरिका के शासकों तथा बड़े पूंजीपतियों का अपवित्र गठजोड़ न सिर्फ तीसरी दुनिया के देशों बल्कि गोरी चमड़ी वालों के दूसरे विकसित देशों, यहां तक कि अमेरिका की कम अधिकार प्राप्त जनता के विरुद्ध भी सक्रिय है ।

और विडंबना यह है कि ये अपराधी आज मुक्त व्यापार, उदारीकरण और भूमंडलीकरण के पुरोधा बने हुए हैं । अर्थात् शैतान द्वारा बाइबल के उद्धरण देने का मामला है ।

संक्षेप में कहा जाए तो अपने वर्तमान स्वरूप में :

- गैट तथा अमेरिका का उदारीकरण पूरी तरह एक धोखा है ।

- डॉ. मनमोहन सिंह का उदारीकरण निरी मूर्खता है ।

- और हमारे एअर-कंडीशंड क्रांतिकारियों का उदारीकरण या तो मिथ्याडंबर है या अज्ञान।

- सभी गैर-अमेरिकी देशों के लिए उदारीकरण आज एक गंभीर चुनौती है ।

- इसलिए विश्व के सभी गैर-अमेरिकी देशों के लिए स्वदेशी की अवधारणा सर्वथा उचित और तुरंत अमल किए जाने योग्य हैं ।

- सच्चा उदारीकरण तथा प्रभुत्ववादी भूमंडलीकरण एक साथ नहीं चल सकता । भूमंडलीकरण की हिंदू अवधारणा सच्चे भूमंडलीकरण का प्रतिनिधित्व करती है ।

भूमंडलीकरण का हिंदू स्वरूप उन सभी हिंदुओं को अच्छी तरह पता है जो अपनी जड़ों से नहीं कटे है जिन्हें आत्मविस्मृति नहीं हुई है । ऐसे लोगों को तो इस अवधारणा का विस्तृत बखान अनावश्यक दोहराव ही लगेगा । लेकिन आत्मविस्मृति के गर्त में खोए हिंदुओं के लिए यहां इसका संक्षिप्त वर्णन मददगार होगा ।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जिन्होंने राज्य (सरकार) की सत्ता के दखल के बिना केंद्र-राज्य प्राधिकरण की कल्पना की थी, विभिन्न राष्ट्रीय संस्कृतियों के पुष्पित पल्लवित होने तथा उनके योगदान से समृद्ध विश्व-राज्य का विचार रखा । उनके मतानुसार ऐसी

(राज्य से इतर) सत्ता मानव धर्म की अनुगामी तथा भौतिकतावाद समेत सभी धर्मों की पूर्णता से परिपूर्ण होगी ।

परम आदरणीय श्री गुरुजी मानते थे कि विश्व की एकता तथा मानव मात्र का कल्याण तभी पूर्ण है जब मानव समुदाय इस एकमात्र और अंतिम वैदिक सत्य को अनुभव कर ले कि "सभी एक हैं" । उनका यह मतलब नहीं था कि विभिन्न राष्ट्रों की विशेषताएं समाप्त कर उन्हें एक समान ढंग में ढाल दिया जाए । उनका मानना था कि परिवारवाद की भावना से ओतप्रोत होकर लोगों के विभिन्न समूह एकत्र आएंगे तथा अपनी निजी पहचान और विशेषताएं अक्षुण्ण रखते हुए भी मानव मात्र के एक होने का अनुभव करेंगे । विभिन्न मानव समूह अपने-अपने ढंग से एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं और उन्होंने अपनी विशिष्ट मेधा तथा प्रतिभा भी अक्षुण्ण रखी है । किसी व्यक्ति या समूह की विशिष्ट प्रतिभा और मेधा नष्ट करने से न सिर्फ सामंजस्य की सुंदरता नष्ट होगी अपितु आत्माभिव्यक्ति की प्रसन्नता भी समाप्त हो जाएगी । विभिन्न तथा नितांत अलग-अलग विशेषताओं में सामंजस्य स्थापित करने की आकांक्षा विश्व की वैचारिक थाती को हमारा योगदान है । श्री गुरुजी कहते हैं कि 'हमारे विचार की विश्व-सत्ता स्वायत्त और आत्मसंतुष्ट राष्ट्रों के संघ से जन्म लेगी । इसका एक साझा केंद्र होगा जो सबको आपस में जोड़ेगा, हिंदुओं का विशाल विश्व-एकता का यह विचार ही मानव के भाईचारे का सुदृढ़ आधार बन सकता है । आंतरिक (आत्मिक) शक्ति का यह ज्ञान ही मानव-मन-मस्तिष्क को मानवता के कल्याण की भावना से भर देगा । यही विचार और यही ज्ञान समस्त पृथ्वी पर के छोटे से छोटे जीव को भी मुक्त रूप से विकसित होने का अवसर दे सकता है । विश्व कल्याण का यही एकमात्र व्यावहारिक उपाय है । महर्षि अरविंद ने भी इसी हिंदू अवधारणा का विस्तार से वर्णन किया है । उन्होंने तो और भी आगे जाकर 'सामूहिक आध्यात्मिकता' की स्थिति की परिकल्पना की है । इसी मानसिक पृष्ठभूमि के कारण हमारे ऋषियों ने 'एक विश्व राज्य' का विचार रचा ।

पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट् ॥

'समुद्र से समुद्र तक, समस्त भूमि पर एक सत्ता'

यही सच्चा भूमंडलीकरण है इसकी अनुपस्थिति में दुनिया लीग ऑफ नेशंस जैसे त्याज्य प्रयोगों और संयुक्त राष्ट्र जैसे चरण से परे नहीं जा सकती ।

ऐसी हिंदू अर्थात् मानवीय जागरूकता की प्रगति के बिना अंतर्राष्ट्रीय अर्थजगत में सच्चे 'मुक्त व्यापार' को मूर्त रूप देना असंभव है साथ ही असंभव है सीमित संसाधनों का अधिकतम उपयोग; प्रकृति को स्थायी क्षति पहुंचाए बगैर तथा पर्यावरण संबंधी समस्याएं खड़ी किए बिना विकास, पृथ्वी के सीमित संसाधनों का वर्तमान असीमित मानवीय आकांक्षाओं से समायोजन, जनसंख्या विस्फोट का नियोजन, विभिन्न देशों द्वारा अपने रक्षा बजटों में आवंटित भारी-भरकम धनराशि को विकास के मद में मोड़ना; प्रत्येक देश को उसके विशिष्ट उत्पाद के क्षेत्र में अधिकतम स्तर प्राप्त करने की प्रेरणा देना, वैज्ञानिक तथा तकनीकी जानकारी का उन्मुक्त आदान-प्रदान; इंटरनेशनल टेक्नालॉजिकल ओम्बड़समैन' (अंतरराष्ट्रीय तकनीकी पंथ) की नियुक्ति, सभ्य देशों के आर्थिक ढांचे को भी बिगाड़ने वाले अंतरराष्ट्रीय अपराधी गिरोहों की रोकथाम तथा विश्व शांति, सामंजस्य और समृद्धि ।

दक्षिण-दक्षिण सहयोग: कैसे और किसलिए

(दक्षिण-दक्षिण सहयोग के प्रति तीसरी दुनिया के देशों की जनता की इच्छाशक्ति का जागरण एक ऐसा मिशन है जिसमें जुटना ही चाहिए ।)

(जेनेवा में वार्ता चल रही थी तब तीसरी दुनिया का नेतृत्व अपने में ही मगन था गैट समझौते के अल्पकालीन या दूरगामी परिणाम क्या होंगे इस पर विकासशील देशों के नेताओं ने, न तो अपने-अपने स्तर पर, न सामूहिक रूप से कभी कोई विचार किया बजाए इसके उन्होंने अपने-अपने देशों की जनता के सामने ऐसे जताया मानो वे भी इस समझौते से सहमत हों, और जब दिसंबर 1993 में उरुग्वे दौर की वार्ताओं के समापन की घोषणा हुई तो नेतृत्व की इस उदासीनता का दुष्परिणाम स्पष्ट दिखने लगा । समूची वार्ता पर केवल यूरोपीय समुदाय और अमेरिका ही हावी थे ।

गैट समझौते की वार्ता के दरम्यान इसके मुख्य दुष्परिणामों के प्रति कुछ सुविज्ञ व्यक्तियों तथा गैर-सरकारी संगठनों (एन.जी.ओ.) ने अपनी-अपनी सरकारों को आगाह भी किया था और कुछ सरकारों ने उनके उठाए मुद्दों पर सहमति भी जताई थी लेकिन ऐसे नेताओं ने भी इन संभावित दुष्परिणामों की बात वार्ता के दौरान प्रभावी ढंग से नहीं उठाई । गैट समझौते के दुष्परिणामों पर विचार करने के लिए तृतीय विश्व के देशों के राज्याध्यक्षों के किसी भी समूह ने, न तो गुटनिरपेक्ष देशों (एन.ए.एम.) ने, न जी-15, या जी-17 समूह के देशों ने मिल-बैठकर एक बार बात करना भी जरूरी नहीं समझा । इनमें से कुछ ने अपनी शंकाएं और आपत्तियां अलग-अलग जरूर उठाई । दक्षिण के विभिन्न देशों के जानकार व्यक्तियों तथा प्रतिनिधियों ने व्यक्तिगत रूप से वक्तव्य देकर इतना भर कहा कि कुछ अपवाद छोड़कर गैट की विभिन्न क्षेत्रीय तथा उप-क्षेत्रीय योजनाएं आशाओं पर खरी नही उतरती तथा अपना उद्देश्य पूरा नहीं कर सकती । व्यापार और

विकास पर संयुक्त राष्ट्र की सभा (अंकटाड) की बैठक में बांग्लादेश के सैयद जमालुद्दीन ने विकासशील देशों में प्रतिबद्धता के अभाव को 'इन देशों में आपसी व्यापार-सहयोग की निराशाजनक स्थिति के लिए कारणीभूत बताया ।' विकासशील देशों में आर्थिक सहयोग पर प्रभावी अमल इफेक्टिव इंप्लिमेंटेशन ऑफ इकॉनॉमिक को-ऑपरेशन एमंग डेवलपिंग कंट्रीज- (ई.सी.डी.सी.) करने के लिए विकसित देशों से वांछित मदद आवश्यक है, लेकिन विकसित (डोनर) देश तथा अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियां विकासशील देशों में सहयोग की आवश्यकता के प्रति जरा सी भी संवेदना नही रखते ।

दक्षिण-दक्षिण सहयोग का अर्थशास्त्र

दक्षिण के कुछ देशों के तेज गति से विकसित होने; मुख्य विकसित देशों में लगातार चलती मंदी तथा विकासशील देशों में आपसी सहयोग की संभावनाओं की अनुभूति ने दक्षिण-दक्षिण सहयोग के विचार को सत्तर के दशक के शुरु में गति प्रदान की । राउल प्रेलिन्दा के 'केन्द्र-परिधि' सिद्धान्त ने दक्षिण-दक्षिण सहयोग के इस विचार को सैद्धांतिक आधार भी दिया । प्रेलिन्दा अर्जेटीना में जन्मे अर्थशास्त्री हैं, उनके विश्लेषण की मुख्य बात है-केन्द्र तथा परिधि के देशों के आर्थिक ढांचे में भेद करना । केंद्र में विकसित देश हैं तो परिधि पर विकासशील देश । अपनी अवधारणाओं के जरिए उन्होंने विकासशील देशों की आवश्यकताओं को समझने के लिए नई अंतर्दृष्टि प्रदान की । वे विकासशील देशों में सहयोग के कट्टर समर्थक हैं, बल्कि इस सहयोग की अवधारणा को बढ़ावा देने वालों में से एक हैं ।

दक्षिण-दक्षिण सहयोग की अवधारणा को १९८५ में संयुक्त राष्ट्र औद्योगिक विकास संगठन (यूनिडो) की रिपोर्ट में जबरदस्त अभिव्यक्ति मिली । इसमें कहा गया, "तथ्यात्मक विश्लेषण से औद्योगिक विकास में हाल में आए संकट के सार्वभौम स्वरूप का खुलासा होता है, औद्योगिक विकास की रफ्तार में इस मंदी ने उत्तर (विकसित देशो) तथा दक्षिण (विकासशील देशों) दोनों को प्रभावित किया है उत्तर-दक्षिण के परस्पर सहयोग से विकास की गति अवरुद्ध हुई है । विकसित बाजार आधारित अर्थव्यवस्थाओं ने मुद्रास्फीति की दर घटाने के लिए मंदी और छंटनी की नीति पर अमल कुछ हद तक रोक दिया, इसके कारण १९६३-१९७९ की कालावधि में उद्योग जगत को सकारात्मक बल मिलने तथा विश्व की औद्योगिक अर्थव्यवस्था का परिणामकारी विकास होने की

प्रवृत्ति उलट दिशा में चलने लगी । १९८० से उत्तर-दक्षिण की परस्पर-निर्भरता नकारात्मक ढंग से काम करने लगी तथा इसका असर दक्षिण के साथ-साथ उत्तर में उत्पन्न ऋण-संकट के रूप में अनुभव किया जा रहा है ।"

रिपोर्ट में कहा गया है कि, "इसलिए यदि उत्तर के विस्तार या अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सुधारों की संभावना नहीं है तो क्या दक्षिण अधिक आत्मनिर्भरता के पथ पर चल सकता है? दक्षिण-दक्षिण सहयोग के विचार का उद्‌गम अर्सूला घोषणा में है तथा लागोस कार्य योजना और कैराकस कार्य योजना ने इसे मजबूती प्रदान की है । एक-दूसरे के साथ व्यापार तथा सहयोग में वृद्धि कर दक्षिण के क्षेत्र औद्योगिकरण के अपने प्रयत्न जारी रख सकते है । विकासशील देशों में परस्पर व्यापार की संभावनाओं के सतर्कता से किए गए व्यापक अध्ययन से पता लगता है कि इन देशों में व्यापार-संबंध बढ़ाने के कई अवसर हैं । खासतौर पर पूंजीगत वस्तुओं के उद्योगों तथा हल्के उद्योगों के मूल उत्पादों के क्षेत्र में ऐसे अवसर प्रचूर भाग में है ।

ई.सी.डी.सी. पर अंकटाड की स्थायी समिति ने १९९२ की रिपोर्ट में कहा गया है कि १९८० के मध्यार्थ के बाद पश्चिम एशिया जैसे कुछ क्षेत्रों को छोड़कर दक्षिण-दक्षिण में सामान्य व्यापार लगातार बढ़ता रहा है । दक्षिण-दक्षिण के कुल व्यापार में अंतरराष्ट्रीय व्यापार का हिस्सा "१९८० के ४८ प्रतिशत से १९८६ में ५७ प्रतिशत और १९९१ में ७१ प्रतिशत हो गया । इससे इस कालखंड में दक्षिण-दक्षिण व्यापार के लगातार क्षेत्रीयकरण होने का पता लगता है ।" अंकटाड सचिवालय ने इस बात की ओर इंगित किया है कि १९८० में कुछ गंभीर क्षति पहुंचने के बाद भी दक्षिण-दक्षिण व्यापार में इससे उबरने के चिह्न दिखे हैं । लेकिन अब भी यह "विश्व व्यापार की सबसे कमजोर कड़ी है । १९९१ में विकासशील देशों के व्यापार की विश्व व्यापार में हिस्सेदारी मात्र ७.२ प्रतिशत थी । विभिन्न संस्थाओं ने इस विषय पर पर्याप्त अध्ययन कर रखा है, उदाहरण के लिए ई.सी.डी.सी. । (विकासशील देशों में आर्थिक सहयोग पर प्रभावी अमल) को बढ़ावा देने में लगे मुख्य बहुपक्षीय संगठन अंकटाड के विभिन्न प्रपत्र प्रकाशित हो चुके हैं,

संस्थागत सहयोग

दक्षिण-दक्षिण सहयोग को बढ़ावा देने वाला विश्व का एक प्रमुख संस्थान-साउथ सेंटर जेनेवा में स्थित है । साउथ कमीशन (आयोग) की स्थापना १९८७ में मलेशिया के प्रधानमंत्री महाथिर मुहम्मद की पहल पर हुई । उन्होंने घोषणा की कि तंजानिया के पूर्व राष्ट्रपति जूलियस के. न्येरेरे ने इसका अध्यक्ष बनने के लिए सहमति दे दी है । इस सेंटर ने दक्षिण-दक्षिण सहयोग की मूल अवधारणा पर विश्व के विभिन्न हिस्सों में सेमिनार आयोजित किए । जे. के. न्येरेरे ने २७ जुलाई १९८७ को दार-ए-सलाम में आयोग के गठन की घोषणा की तथा डॉ. मनमोहन सिंह को इसका महासचिव (सेक्रेटरी जनरल बनाया दार-ए-सलाम सेमिनार की आयोग की रिपोर्ट १९९० में प्रकाशित हुई ।

डा. मनमोहन सिंह की अगुआई में यह आयोग किस विचार से प्रेरित होकर काम कर रहा था, यह जानने के लिए इस रिपोर्ट के कुछ अंश ही यहां उद्धृत करना पर्याप्त होगा ।

"अपने स्वयं के लिए तथा समस्त मानवता के लिए दक्षिण को चाहिए कि वह अर्थ-व्यवस्था को अपने लाभ के अनुरुप नया आकार देने के उत्तर के प्रभावी देशों के वर्तमान प्रयत्नों का विरोध दृढ़निश्चयी होकर करे । सबसे बड़ा मानव समुदाय होने के कारण दक्षिण को समस्त जनता की समान और स्थायी अर्थ व्यवस्था गढ़ने की प्रक्रिया में अपनी अपेक्षित भूमिका निभानी चाहिए ।"

इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर विकासशील देशों को निम्नालिखित उपाय करने ही चाहिएं:-

* दक्षिण के सामूहिक संसाधनों का उपयोग बढ़ाते हुए (विकसित देशों के) बराबर अधिकतम शक्ति हासिल करनी चाहिए ।

* नई अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था; उसके मूलभूत उद्देश्यों, कैसे यह चलाई जाएगी तथा इसके लिए कौन-कौन सी संस्थाएं बनानी जरूरी होगी-इन मुद्दों पर अंतरराष्ट्रीय बिरादरी की सर्वसम्मति हासिल करने के लिए दक्षिण के देशों को, सभी प्रमुख शक्तियों की सहभागिता वाली बहुपक्षीय, लोकतांत्रिक व्यवस्था को गति देने के लिए जोर डालना चाहिए ।"

"इस प्रकिया में नेतृत्व की भूमिका निभाने के लिए एक आवाज में अपने स्पष्ट प्रस्ताव रखने चाहिए । ऐसे प्रस्तावों का लक्ष्य विश्व समुदाय, खास तौर पर युवाओं का मन जीतना होना चाहिए, समूचे विश्व को एक ही मानव परिवार बनाने के लिए उन्हें संकीर्णता (क्षेत्रीयता) के दायरे से ऊपर उठना चाहिए।"

"अपनी समस्त सुप्त शक्ति जगाने के क्रम में दक्षिण को सबसे पहले इस बात का इंतजाम करना चाहिए कि उसकी अर्थव्यवस्थाएं अधिकतम संभव सीमा तक स्वयंचालित बनें तथा उनका यह विकास उत्तर के विकास का उप-उत्पाद (बाय प्रोडक्ट) भर नहीं रहे । दक्षिण को उत्तरी बाजारों में अपनी उपस्थिति अधिक दिखाने की आवश्यकता है; इसके लिए उसे बाजारों में अपनी पैठ (एक्सेस) बढ़ानी होगी तथा संरक्षणवाद का बोरिया-बिस्तर बांधना होगा, आजकल इस संरक्षणवाद का लक्ष्य अक्सर ऐसे उत्पाद होते हैं जिनका निर्यात के लिहाज से दक्षिण के लिए पर्याप्त महत्व है । लेकिन उत्तर के विकास की जैसी प्रवृत्तियां उभर रही हैं, वे स्पष्ट रूप से बताती है कि 'उत्तर' की अग्रगामी अर्थव्यवस्थाओं का इंजन दक्षिणी अर्थव्यवस्थाओं की गाड़ी को उस रफ्तार से नहीं खींचेगा कि इस गाड़ी के यात्री - दक्षिण की जनता - संतुष्ट हो जाए इसलिए अपनी गाड़ी स्वयं खींचने की यह शक्ति दक्षिण को अपनी ही अर्थव्यवस्थाओं में अधिकतम स्तर तक जगानी होगी । दक्षिण में व्याप्त भयंकर दारिद्रय, विशेष रूप से दक्षिण के कृषि क्षेत्र की निम्न उत्पादकता दक्षिण में ही अंतर्निहित लेकिन अब तक प्रयोग न की गई संभावनाओं की ओर इशारा करते हैं । यही शक्ति उसकी उन्नति की प्रक्रियाओं का ईंधन है । अपनी उन्नति तथा (विकसित देशों की) बराबरी पर आने में निरंतर ग्रामीण विकास, जो छोटे किसानों की उत्पादकता तथा आय बढ़ाने पर मुख्य रूप से केंद्रित हो, शक्तिशाली साधन सिद्ध हो सकता है ।"

"दक्षिण-दक्षिण सहयोग स्थापित करने तथा अपनी अर्थव्यवस्थाओं के विकास के विकल्पों का दायरा बढ़ाने के लिए समूचे दक्षिण में पर्याप्त बाजार, तकनीकी तथा वित्तिय संसाधन उपलब्ध हैं । अपने स्वायत्त और आत्मनिर्भर विकास के लिए घनिष्ठ दक्षिण-दक्षिण सहयोग विकासशील देशों की रणनीति का हिस्सा बनना ही चाहिए, उत्तर का इंजन भले ही धीमी गति से चल रहा हो, दक्षिण को विकास की तेज रफ्तार बनाए रखने के लिए अपनी क्षमता निर्मित करनी चाहिए ।"

इसलिए दक्षिण-दक्षिण सहयोग विकासशील देशों की अपने विकास के लिए रणनीतिक आवश्यकता ही नहीं है बल्कि भूमंडलीय अंतर्निर्भरता में बराबरी की भूमिका प्राप्त करने का भी उपाय है । दक्षिण-दक्षिण सहयोग से ही विकासशील देशों को ऐसी सामूहिक शक्ति तथा बराबरी से प्रत्युत्तर देने की क्षमता हासिल हो सकती है । जिसे उत्तर (विकसित देश) चाहकर भी नजरअंदाज नहीं कर सकता । विश्व-अर्थव्यवस्था के प्रबंधन में प्रभावी भूमिका प्राप्त करने के लिए यह सामूहिक शक्ति अत्यंत आवश्यक है-और इसे दक्षिण के देशों के बीच एकता, अपने लक्ष्यों की खोज में निरंतरता और उपायों के उपयोग में लचीलेपन का आधार मिलना चाहिए ।

साऊथ (दक्षिण) कमीशन के एक अन्य प्रकाशन- 'फेसिंग द चैलेंज' से हमें इस आयोग की रिपोर्ट पर विकासशील देशों के २८ सुविज्ञ तथा प्रतिष्ठित लोगों की प्रतिक्रियाओं का पता लगता है । आयोग की रिपोर्ट में विकासशील देशों की एक दूसरे से जुड़ी समस्याओं जिन्हें राष्ट्रीय विकास के मसलों से भी संबद्ध किया गया है तथा समस्त मानव-समुदाय के तीसरे हिस्से- ३.५ अरब लोगों पर प्रभावी होने वाले दक्षिण-दक्षिण सहयोग की चर्चा की गई । ये देश विकास के गहन संकट के शिकार रहे हैं । जैसे-रहन-सहन का स्तर तथा प्रति व्यक्ति आय बुरी तरह अवरूद्ध होना; हमेशा फूट पड़ने को तैयार, अस्थिरता के कारक सामाजिक आर्थिक तनाव, विकसित देशों की विभेदकारी नीतियाँ और पूंजी का प्रवाह अचानक ही सूख जाना, अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों की नीतियां जिनसे अवस्फीति (मूल्यों में कमी) के दबावों में वृद्धि होती है, विश्व व्यापार के लिए वस्तुओं तथा सेवाओं के मुख्य उत्पादकों के रूप में लेन-देन के उद्यम का तीव्र विस्तार, बढ़ती अस्थिरता; अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था खास तौर पर ब्याज और विनिमय दरों मे अनिश्चितता तथा उतार-चढ़ाव; पूंजी बाजार में बढ़ती अनिश्चितता; ऋण लेने में अत्यधिक बढ़ोतरी; ऋण के भुगतान के कारण संसाधनों का घटते जाना; गरीबों के जीवन स्तर की रक्षा की बजाए ऋण अदायगी को प्राथमिकता; व्यापार की बदहाली के कारण पूंजी की निकासी; कृषि की तुलना में उद्योगों को वरीयता; भूमि सुधारों का त्रुटिपूर्ण क्रियान्वयन, सामग्री, ऊर्जा, श्रम-बाहुल्य वाले उत्पादों-प्रक्रियाओं से हटकर ज्ञान की बहुलता वाले उत्पादों-प्रक्रियाओं पर ध्यान केंद्रित करना और इसी तरह कृषि और उद्योग की बजाए सेवाओं की ओर रुख करना; व्यापार, मुद्रा, वित्त, तथा तकनीकी

के प्रवाह को नियंत्रित करने वाली अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था । विकसित देशों की दादागीरी वाली नीतियां; "अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की एकमुस्त नीतियां जो ढांचागत समायोजन के लिए विवश करती हैं । बाहरी कारणों से पैदा हुई कठिनाइयां और गरीबी के विशाल समुद्र में समृद्धि के गिने-चुने टापू । जेनेवा के साऊथ सेंटर के प्रकाशन 'द चैलेंजेस टु द साऊथ-साऊथ को-ऑपरेशन' (दक्षिण-दक्षिण सहयोग को चुनौतियां) में विश्व के विभिन्न हिस्सों के २४ लेखकों ने विकासशील देशों में आर्थिक और तकनीकी सहयोग के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक पहलुओं का आलोचनात्मक विश्लेषण किया है । उन्होंने खास तौर पर साझा निवेश और ऐसे निवेशों के लिए वित्त व्यवस्था पर अपना ध्यान केंद्रित किया । नवंबर १९८१ में यूगोस्लाविया के ब्लेड में इस विषय पर हुई अंतर्राष्ट्रीय कार्यशाला (वर्कशाप) में स्वीकार किए गए तीस सुझावों का इस पुस्तक में उल्लेख किया गया है ।

गुटनिरपेक्ष तथा दूसरे विकासशील देशों के प्रयोजन के लिए बना नई दिल्ली स्थित द रिसर्च एंड इन्फोर्मेशन सिस्टम (आर.आइ.एस.) एक ऐसा मंच है जो विकासशील देशों के विकास से जुड़े विभिन्न अंतरराष्ट्रीय आर्थिक मुद्दों पर इन देशों को विश्लेषणात्मक सहयोग देता है । इस संस्था के उद्देश्यों तथा लक्ष्यों में दूसरी बातों के आलावा गुटनिरपेक्ष और अन्य विकासशील देशों में आत्मनिर्भरता की अवधारणा को बढ़ावा देना और इन देशों की विभिन्न शोध संस्थाओं में प्रभावी गठजोड़ की व्यवस्था निर्मित कर उसे बढ़ाना भी है । ताकि ये देश अपनी शोध क्षमताएं अपने अधिकतम सामूहिक लाभ के लिए इस्तेमाल कर सकें । आर.आइ.एस. ने २७ सितंबर १९८४ को 'न्यू पर्सस्पेक्टिवज् इन नॉर्थ-साऊथ एंड साऊथ-साऊथ इकॉनॉमिक रिलेशंस' (उत्तर-दक्षिण तथा दक्षिण-दक्षिण के आर्थिक संबंधों की नई दृष्टि) विषय पर जो सेमीनार आयोजित किया था, उसकी कार्यवाही भी प्रकाशित हो चुकी है । आर.आइ.एस. ने २०-२२ नवंबर १९८५ को नई दिल्ली में आयोजित अपने दूसरे सम्मेलन में आए शोध-पत्रों का प्रकाशन कर इस विषय में बड़ा योगदान दिया है । इस पुस्तक का शीर्षक- 'साऊथ-साऊथ इकॉनॉमिक को-ऑपरेशन,' जिसमें आर.आइ.एस. के निदेशक डॉ. वी. आर. पंचमुखी ने, जो अंतरराष्ट्रीय व्यापार सिद्धांत के एक प्रमुख जानकार है अपनी भूमिका में लिखा है, "दक्षिण-दक्षिण सहयोग कोई नई अवधारणा नहीं है गुटनिरपेक्ष आंदोलन की शुरुआत तथा समूह ७७ के देशों द्वारा मई १९८१ में कैराकस प्रोग्राम ऑफ एक्शन

स्वीकार कर लिए जाने के बाद इस क्षेत्र के विभिन्न पहलुओं पर काफी कुछ काम हुआ है।" आर.आइ.एस. ने इस विचार के बारे में कुछ और शोध प्रपत्र भी प्रकाशित किए हैं । इनमें कुछ हैं-साऊथ-साऊथ इकॉनॉमिक कोऑपरेशन सम इश्यूज दन द फील्ड्स ऑफ ट्रेड एंड फायनांस- (अंकटाड सेक्रेटरिएट) इंडस्ट्रीयल को-ऑपरेशन अमंग डेवलपिंग कंट्रीज एण्ड द रोल ऑफ यूनिडो (एस. नंजुनदार); एन इवॉल्यूशन ऑफ ए प्रिफ्रेंशियल ट्रेडिंग अरेंजमेंट् दन द इ. एस. सी. ए. पी. रीजन (आई. एन. मुखर्जी) ; द एशियन क्लियरिंग यूनियन: टुवर्ड्स रीजनल मॉनेटरी को-ओपरेशन (बी. के. मदान) ।

साऊथ-साऊथ फायनांशियल को-ऑपेरशन : एप्रोचेस टु द करंट क्राइसिस द जमैका पेपर्स' (दक्षिण-दक्षिण में वित्तीय सहयोग: वर्तमान संकट के संदर्भ में-जमैका प्रपत्र) नाम की पुस्तक को प्रख्यात अर्थशास्त्री द्रागोस्लाव एवरामोविक ने संपादित किया है तथा इसका सबसे पहले प्रकाशन १९९३ में ब्रिटेन में हुआ था । इसमें मार्च १९८२ में जमैका में हुई समूह-७७ के देशों के विशेषज्ञ समूह की बैठक में प्रस्तुत आठ शोध-पत्रों का समावेश है । जमैका की इस बैठक की सबसे दिलचस्प सलाह विकासशील देशों के लिए बैंक स्थापित करने की व्यावहारिकता का तकनीकी अध्ययन करने की थी । बैठक में कहा गया था कि इस सुझाव पर निश्चित ही विचार किया जाना चाहिए । जमैका पेपर्स की प्रस्तावना में डॉ. सलह-अल-रोखली कहते हैं, "विकासशील देशों को अपने ही संसाधनों का उपयोग करने का प्रयत्न करके नई संस्थाएं बनानी चाहिए तथा विकास और वित्तीय साधन जुटाने की व्यवस्था करनी चाहिए । अपनी स्वयं की समस्याएं सुलझाने के लिए औद्योगिक देशों का मुंह ताकते रहना इस समय सर्वाधिक खतरनाक होगा । यदि इस वक्त उत्तर (विकसित देश) विकासशील देशों की प्रगति की पहल करने के लिए इच्छुक नहीं हैं तो दक्षिण (विकासशील देश) ऐसा क्यों नहीं कर सकते ।"

दक्षिण-दक्षिण सहयोग के बारे में एक अन्य महत्वपूर्ण पुस्तक-फ्रांसिस स्टीवर्ट की 'नार्थ साऊथ एंड साऊथ-साऊथ-में वे लिखते हैं, यह कैसे संभव हुआ कि नॉर्थ-साऊथ (उत्तर-दक्षिणी) के आर्थिक संबंधों का नियमन करने वाले सारे नियम विकसित देशों के नीति-नियंताओं ने ही बनवा लिए और वह भी अपने देशों के फायदे के नजरिए से । साथ ही वे इन नियमों को अपने ही ढंग से परिभाषित भी करते हैं ।"

सन् १९८९ में स्थापित राष्ट्रमंडल देशों के विशेषज्ञ समूह ने इस धारणा के मद्देनजर कि विकासशील देशों के सामने उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों में १९८० से काफी बदलाव आया है, इन देशों की प्रगति को प्रभावित करने वाले इन बदलावों के कारणों का गहराई से अध्ययन किया । इसके अनुसार " बदलाव ऐसे समय हुए जब विकासशील विश्व का बड़ा हिस्सा १९८० के परिणामों से दोहरा हुआ जा रहा था, जब बाहरी ऋण की अपरिमित मात्रा आर्थिक प्रगति में मुख्य बाधा बन गई थी, तथा बढ़ती गरीबी पूर्ववर्ती दशकों में बंधी आशाओं को पलीता लगा रही थी ।"राष्ट्रमण्डल सचिवालय ने इस समूह की रिपोर्ट अगस्त १९९१ में प्रकाशित की।

डॉ. वी. आर. पंचमुखी ने अपने जून १९९२ में प्रकाशित प्रपत्र 'साऊथ-साऊथ को ऑपरेशन इन साऊथ, साऊथ ईस्ट एंड ईस्ट एशिया : अ परस्पेक्टिव' में इस बात पर जोर दिया है कि सहयोग बढ़ाने के संदर्भ में निम्नलिखित तीन पहलुओं पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है :-

१. एक दूसरे को बढ़ावा व मदद देने वाले क्षेत्रों की संभावनाओं की पहचान।

२. इन क्षमताओं, संभावनाओं के अधिकतम उपयोग में बाधक बनने वाले तत्वों की पहचान।

३. विभिन्न नीतिगत सुझावों तथा दूसरे सहयोगात्मक उपायों पर अमल ताकि बाधाएं दूर होकर सहयोग की संभावनाओं के उपयोग का मार्ग प्रशस्त हो, हांस सिंगर, नीलांबर हाली तथा रामेश्वर टंडन के संपादित किए प्रपत्र, 'चैलेंजेस टु साऊथ-साऊथ को-ऑपरेशन-पार्ट 1 एंड पार्ट 2 दक्षिण-दक्षिण सहयोग के निम्नलिखित तत्वों से जुड़े शोध का उल्लेख किया गया है :

(अ) उत्तर-दक्षिण और दक्षिण-दक्षिण

(ब) सहयोग के लिए अनुकूल व्यापार नीतियां

(स) यूनिडो (यू.एन.आइ.डी.ओ.), इ. सी. डी. सी.सार्क

(द) दक्षिण-दक्षिण व्यापार में उत्पन्न होती परस्पर बढ़ावा देने की प्रवृत्ति

(इ) सहारा के उस पार की अफ्रीका (सब-सहारान अफ्रीका) में आर्थिक क्षेत्रीयतावाद (फ) निर्याताभिमुख प्रगति तथा लीमा में तय किया गया लक्ष्य (लीमा टारगेट) इन प्रपत्रों में ५० से ज्यादा प्रतिष्ठित विद्वानों ने अपना योगदान दिया है ।

दुर्बलता

आज दक्षिण-दक्षिण सहयोग को मजबूत करने की जरुरत पहले से कही ज्यादा है । यूरोपीय देशों में आर्थिक सहयोग ने जता दिया है कि अपनी व्यवस्था स्वयं करना कितना महत्वपूर्ण है । यह प्रयोग विशेष रूप से सहयोग की प्रक्रिया का मार्गदर्शन करने वाले नेतृत्व के लिए बहुत अहम है । इससे पता लगता है कि प्रगति की रणनीति संबद्ध देशों के आर्थिक और राजनैतिक ढांचे में गहरे पैठी होती है लेकिन विकासशील देशों में सहयोग के प्रयत्न अब तक बिना किसी रणनीति के तहत किए गए ।

साऊथ कमीशन की रिपोर्ट में कहा गया है कि, "दक्षिण-दक्षिण सहयोग की एक प्रमुख नाकामी कमजोर संगठन तथा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर और खुद ज्यादातर देशों में संस्थागत तकनीकी मदद के अभाव का होना है ।" दक्षिण में सहयोग के प्रयत्न किसी कार्यक्षम तथा प्रभावी रणनीति के बगैर ही होते रहे हैं । -

ऐसे प्रयत्न "अस्तव्यस्त ढंग से और जितना हो सकता है, उतना कर लेने की मनोवृत्ति" के तहत किए गए ।

रणनीति ऐसी होनी चाहिए जो सहयोग के व्यापक क्षेत्र की स्पष्ट पहचान करे, दीर्घकालीन सहयोग को चिन्हित करे तथा अल्प, मध्य और दीर्घकालिक कार्यक्रमों के क्रियान्वयन का चरणबद्ध ब्यौरा तैयार करे ।

ऐसी रणनीति का मोल अब तक नही जाना गया, यद्यपि दक्षिण-दक्षिण सहयोग की दिशा में काफी प्रयत्न हो रहा है, कई तरह की पहल और योजनाएं भी सामने आई हैं, लेकिन व्यावहारिक परिणाम अब भी सीमित हैं ।

दृढ़ इच्छा ही मार्ग दिखाएगी

स्पष्ट रूप से इस संदर्भ में मुख्य कारक जनता की इच्छा शक्ति ही है । नई दिल्ली में हुए विचार-विमर्श में सम्मिलित प्रतिनिधियों ने विकासशील देशों में खाद्य, ऊर्जा, व्यापार, वित्त, कच्चा माल, उद्योग, तकनीकी सहयोग के लिए १९८१ में कैराकस में स्वीकृत

विस्तृत कार्ययोजना सर्वथा उचित बताया । उन्होंने यह भी अनुभव किया कि ऐसे सहयोग को मूर्त रूप देने के लिए विकासशील देशों के उद्योग-व्यापार जगत के नेतृत्व में ही नहीं बल्कि इन देशों के वैज्ञानिकों, बुद्धिजीवियों, लेखकों तथा पत्रकारों में भी विभिन्न मसलों पर परस्पर रिश्ते कायम होने आवश्यक हैं । जैसा कि ब्रजेंद्रनाथ बनर्जी ने अपनी पुस्तक 'कैराकस टु न्यू डेल्ही' में इंगित किया है, विकासशील देशों में सहयोग को राजनैतिक इच्छाशक्ति न होने के कारण अमली जामा नहीं पहनाया जा सका ।

लेकिन अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है, अब भी खाईयां पाटी जा सकती हैं । तीसरी दुनिया के देशों की जनता की सुप्त इच्छा शक्ति जागृत हो रही है और इन देशों के राष्ट्रभक्तों के लिए यह मिशन हाथ में लेने के लायक ही है ।

स्वदेशी और स्वराज्य

स्वदेशी केवल रोटी, कपड़ा और मकान का नहीं अपितु संपूर्ण जीवन का दृष्टीकोण है। स्वदेशी देश की प्राणवायु है, स्वराज्य और स्वाधीनता की गारंटी है। गरीबी-भूखमरी और गुलामी से मुक्ति का उपाय है यह। स्वदेशी के अभाव में राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और मानसिक स्वातंत्र्य सर्वथा असम्भव है।

महात्मा गांधी

स्वदेशी जागरण मंच

60, नार्थ एवेन्यु, नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 3793612